THE ECONOMIC TIMES

*Date: 13-11-26*

# For a Greener Future, Bring Back Coal Cess

**ET Editorials**

Reintroducing a coal cess should be on the FM's priority list for Budget 2027-28. India's $CO_2$ emissions continued to rise in 2025, even as global emissions growth slowed. India has slipped 5 places to 28th in the latest Climate Change Performance Index, which assesses 64 countries and the EU. This is despite adding a record 55.3 GW of non-fossil capacity in 2025-26, making it the world's 3rd largest in installed RE capacity. Coal's share of installed capacity has fallen from 61% in 2014-15 to 41.7% in 2025-26, but its dominance in generation persists.

Electricity demand is expected to grow 6.4% annually till 2030, making a rapid coal exit near-impossible. A coal cess will signal India is pricing its carbon dependence. It could also reduce carbon costs exporters face at the border. Britain has recognised India's Carbon Credit Trading Scheme (CCTS) for carbon-price relief under its CBAM. The EU is yet to do so. A cess could strengthen India's case for similar relief, while retaining more carbon revenue at home to fund the energy transition.

Unlike a carbon tax, a cess won't require an amendment to tax laws. It can be an interim measure as CCTS expands and a carbon tax is debated. With GST on coal at 18%, an additional 500 a tonne, against the previous 400, is hardly excessive. Cess proceeds are outside Finance Commission's divisible pool, making it possible to earmark them for a 'Just Transition Fund'. Allocation based on effort-sharing could recognise states' differing capacities and transition costs, addressing their resistance to a central cess. In 2024-25, coal cess yielded 52,500 cr. A revived cess would create a dedicated transition fund and signal India's commitment to a decarbonised development pathway.

---

दैनिक भास्कर

*Date: 13-11-26*

# आर्थिक विषमता की खाई को और बढ़ाता जा रहा है एआई

**कौशिक बसु, ( विश्व बैंक के पूर्व चीफ इकोनॉमिस्ट )**

मैं अभी-अभी दो वैश्विक शिखर सम्मेलनों से लौटा हूं- शंघाई में बुण्ड समिट और मुंबई लिटफेस्ट। दोनों में एक ही सवाल बार-बार सामने आता रहा : कारखाने के श्रमिकों से लेकर कलाकारों और संगीतकारों तक, लोगों के जीवन को एआई कैसे बदलेगा?

हम इस संभावना को खारिज नहीं कर सकते कि एआई अपनी रिकर्सिव सेल्फ-इम्प्रूवमेंट क्षमता के साथ बुद्धिमान प्राणियों की एक नई प्रजाति के विकास को गति देगा, जो मनुष्यों से कहीं अधिक श्रेष्ठ होगी। इसका मतलब यह होगा कि 300,000 वर्षों तक पृथ्वी पर अपना वर्चस्व कायम रहने के बाद हमें जल्द ही वह सीखना पड़ सकता है, जो चिम्पैंजियों ने बहुत पहले ही सीख लिया था : एक श्रेष्ठ प्रजाति के साथ सह-अस्तित्व की कला।

लेकिन शिखर सम्मेलनों में मैंने इस बारे में बात नहीं की। इसके बजाय मैंने इस पर जोर दिया कि डिजिटल टेक्नोलॉजी का प्रवाह अर्थशास्त्र की इस पुरानी बहस को फिर से खोल रहा है कि हमें असमानता या गरीबी में से किसकी अधिक चिंता करनी चाहिए। मुख्यधारा के अर्थशास्त्री कहते हैं कि हमें असमानता की परवाह किए बिना गरीबी को खत्म करने की कोशिश करनी चाहिए। लेकिन यह रुख अब स्वीकार्य नहीं रह गया है।

एआई के आगमन के साथ, चरम विषमता यानी धनाढ्यों और औसत संसाधनों वाले व्यक्तियों के बीच आय या सम्पत्ति का अंतर- मानव समाज के लिए खतरा बन सकती है। जैसा कि सेसिलिया रिकप अपनी हालिया पुस्तक 'द रूलर्स' में बताती हैं, बिग टेक के उदय ने आर्थिक शक्ति के अत्यधिक केंद्रीकरण को जन्म दिया है। अर्थशास्त्री परंपरागत रूप से किसी देश की आबादी के सबसे अमीर 10% लोगों को देखकर आय और संपत्ति के कंसंट्रेशन को मापते रहे हैं। लेकिन वर्ल्ड इनइक्वेलिटी रिपोर्ट 2026 दिखाती है कि अब सबसे अमीर 0.001% के पास मानवता के सबसे गरीब आधे हिस्से जितनी सम्पत्ति का तीन गुना एकत्र हो चुका है और उनकी संपत्ति तेजी से बढ़ रही है।

जैसे-जैसे कारखाने एआई-संचालित रोबोट्स और चंद मानव श्रमिकों से भरे विशाल स्थान बनते जा रहे हैं, धन और भी अधिक केंद्रीकृत होने के लिए तैयार है। ऐसे में अत्यधिक असमानता को रोकना गरीबी खत्म करने का एक साधन ही नहीं, लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए भी आवश्यक है। इस उद्देश्य के लिए, मैंने सार्वभौमिक बुनियादी आय (यूबीआई) के विचार से आगे बढ़कर सार्वभौमिक बुनियादी हिस्सेदारी (यूबीएस) का प्रस्ताव रखा। मेरे प्रस्ताव पर दोनों सम्मेलनों के दर्शकों ने सहमति जताई।

यूनिवर्सल बेसिक इनकम का लक्ष्य है लोगों को एक निश्चित न्यूनतम आय सीमा से ऊपर उठाना। लेकिन अब यह पर्याप्त नहीं रह गया है। सबसे अमीर 0.001% और गरीबों के बीच विकराल होते अंतर को कम करने के लिए अब लोगों को वैश्विक अर्थव्यवस्था द्वारा उत्पन्न मुनाफे का एक हिस्सा भी देना होगा।

बेशक, इसके लिए कई विवरणों पर काम करने की आवश्यकता होगी। एक अर्थशास्त्री के रूप में मैं अच्छी तरह जानता हूं कि समृद्धि को आगे बढ़ाने में लाभ का उद्देश्य एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। लेकिन ऐसे सम्पत्ति करों की परिकल्पना करना सम्भव है, जो ऐसे अरबों लोगों के जीवन-स्तर को बढ़ाएंगे, जिन्हें एआई के कारण नौकरियां गंवानी पड़ सकती हैं या बेहद कम वेतन पर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ सकता है। लेकिन यह लोगों की कड़ी मेहनत करने और रचनात्मक होने की प्रेरणा को कमजोर नहीं करेगा।

एक प्रभावी यूबीएस प्रणाली स्थापित करने में एक बाधा यह है कि यदि कोई देश इसे अपनाता है, तो परिणामस्वरूप होने वाला पूंजी का पलायन उसकी अर्थव्यवस्था को तबाह कर सकता है। इसलिए यूबीएस के लिए अंतरराष्ट्रीय समझौते की आवश्यकता होगी, जिसे बहुपक्षीय संगठनों द्वारा लागू किया जाएगा। यह आसान नहीं होगा, लेकिन विश्व व्यापार संगठन द्वारा लागू किए व्यापार समझौतों और अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के श्रम कन्वेंशनों में पहले से ही उदाहरण मौजूद हैं। 100 साल पहले ऐसे इंतजाम असंभव लगते थे, लेकिन दुनिया की आबादी अब लगभग 8.3 अरब है। चूंकि वैश्विक धन कुछ ही हाथों में केंद्रित होता जा रहा है, इसलिए यूबीएस प्रणाली से बहुसंख्य मानवता को लाभ ही होगा।

---

बिज़नेस स्टैंडर्ड

***Date: 13-11-26***

# नरसिम्हम समिति की रिपोर्ट पर पुनर्विचार का वक्त

**एमएस श्रीराम, ( लेखक भारतीय प्रबंध संस्थान, बेंगलूरु के सेंटर फॉर पब्लिक पॉलिसी के प्रोफेसर हैं )**

वित्तीय तंत्र पर गठित समिति (नरसिम्हम समिति) ने नवंबर 1991 में अपनी रिपोर्ट सौंपी थी। इस रिपोर्ट को नरसिम्हम-1 कहा जाता है। इसके बाद एम. नरसिम्हम की अध्यक्षता में गठित एक अन्य समिति ने 1998 में बैंकिंग क्षेत्र में सुधारों पर अपनी रिपोर्ट दी, जिसे नरसिम्हम-2 के नाम से जाना गया।

नरसिम्हम समिति की पहली रिपोर्ट करीब 35 साल बाद आज भी पढ़ने लायक है। इस रिपोर्ट में भारतीय वित्तीय क्षेत्र को आधुनिक और मजबूत बनाने का पूरा खाका पेश किया गया था। समिति ने करीब 40 सुझाव दिए थे। इनमें से कई पर अमल करने में वर्षों लग गए जबकि कई सिफारिशें आज भी पूरी तरह लागू नहीं हो पाई हैं।

समिति की प्रमुख सिफारिशों का मकसद भारतीय बैंकिंग व्यवस्था को पूंजी पर्याप्तता, लेखांकन, कंपनी प्रशासन और निगरानी के मामले में वैश्विक मानकों के अनुरूप बनाना था। दिलचस्प बात यह है कि समिति ने सरकारी बैंकों के निजीकरण की सिफारिश नहीं की थी। इसके बजाय उसने जोर दिया था कि इन बैंकों का प्रबंधन पेशेवर तरीके से होना चाहिए और सरकारी विभागों का अनावश्यक हस्तक्षेप खत्म किया जाना चाहिए। समिति का स्पष्ट मानना था कि किसी बैंक का स्वामित्व किसके पास है और उसका संचालन कैसे होता है, इन दोनों बातों को अलग-अलग रखा जाना चाहिए। बैंकों की रणनीति और कामकाज का फैसला अफसरशाही के बजाय पेशेवर प्रबंधन को करना चाहिए।

समिति ने यहां तक सुझाव दिया था कि भारतीय रिजर्व बैंक (आरबीआई) का बैंक निदेशक मंडल में कोई प्रतिनिधि नहीं होना चाहिए। सरकार की ओर से भी सिर्फ एक प्रतिनिधि होना चाहिए जो बैंक में सरकार के मालिकाना

हितों का प्रतिनिधित्व करे। हालांकि, समिति के दो सदस्यों ने इस पर असहमति जताई थी। उनका सुझाव इससे भी आगे का था। उनका मानना था कि सरकारी बैंकों के निदेशक मंडल में सरकार का कोई प्रतिनिधि नहीं होना चाहिए और इन बैंकों को पूरी तरह स्वायत्त संस्थाओं के रूप में काम करना चाहिए। उन्होंने यहां तक सुझाव दिया था कि वित्त मंत्रालय के बैंकिंग विभाग को ही समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

समिति ने बैंकों के फंसे हुए कर्ज से निपटने के लिए भी एक अलग व्यवस्था बनाने की सिफारिश की थी। हालांकि, फंसे कर्ज की वसूली और बैंकों को गिरवी रखी परिसंपत्तियों पर अधिकार दिलाने से जुड़ा सरफेसी कानून वर्ष 2002 में जाकर अस्तित्व में आया। यानी समिति की सिफारिश के करीब एक दशक बाद। इसके बाद देश की पहली परिसंपत्ति पुनर्गठन कंपनी (आर्सिल) ने वर्ष 2003 में कामकाज शुरू किया। पूंजी पर्याप्तता के मामले में भी समिति ने अंतरराष्ट्रीय मानकों के अनुरूप व्यवस्था अपनाने की सिफारिश की थी। ये मानक बैंक फॉर इंटरनैशनल सेटलमेंट्स (बीआईएस) की सिफारिशों पर आधारित थे। बाद में भारत ने इन्हें लागू भी किया। लेकिन इस रिपोर्ट की अहमियत सिर्फ उन सिफारिशों में नहीं है जिन्हें लागू कर दिया गया। असल में, इसकी कुछ ऐसी सिफारिशें भी हैं जिन पर आज तक पूरी तरह अमल नहीं हो पाया है। मौजूदा परिस्थितियों में भी ये सुझाव उतने ही प्रासंगिक नजर आते हैं।

समिति ने भारतीय बैंकिंग क्षेत्र के एकीकरण की भी सिफारिश की थी। उसका सुझाव था कि देश में तीन से चार बड़े बैंक होने चाहिए जिनमें भारतीय स्टेट बैंक (एसबीआई) भी शामिल हो। इसके अलावा 8 से 10 राष्ट्रीय स्तर के बैंक होने चाहिए। समिति ने सरकारी बैंकों की विदेशों में मौजूद शाखाओं और कारोबार को भी एक या दो संस्थाओं के तहत समेटने का सुझाव दिया था। इसका मकसद ऐसी बड़ी और मजबूत अंतरराष्ट्रीय बैंकिंग संस्थाएं तैयार करना था, जिनकी वैश्विक वित्तीय बाजार में प्रभावशाली मौजूदगी हो और जिन्हें दुनिया गंभीरता से ले। आज भारत अपने बैंकिंग क्षेत्र में विदेशी बैंकों और अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की भागीदारी बढ़ाने की दिशा में तेजी से कदम उठा रहा है। लेकिन इसके उलट भारतीय बैंकों का अंतरराष्ट्रीय विस्तार उस स्तर तक नहीं हो पाया है जिसकी कल्पना नरसिम्हम समिति ने की थी। बैंकों के एकीकरण के मामले में समिति ने देश में 8 से 10 राष्ट्रीय स्तर के बैंक बनाने का सुझाव दिया था। इस लक्ष्य को हमने काफी हद तक हासिल कर लिया है लेकिन जिस तरीके और क्रम में समिति ने इसके लिए सुझाव दिया था, उस पर अमल नहीं हुआ। यही वजह है कि बैंकों का यह एकीकरण शायद उतना प्रभावी नहीं रहा जितना हो सकता था।

ग्रामीण बैंकिंग के मामले में नरसिम्हम समिति ने एक दिलचस्प सुझाव दिया था। उसका प्रस्ताव था कि प्रत्येक बैंक के ग्रामीण कारोबार को अलग करके उसकी पूर्ण स्वामित्व वाली सहायक कंपनी बनाई जाए। इसके साथ ही उस बैंक के प्रायोजक के तहत आने वाले क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों (आरआरबी) का इसी सहायक कंपनी में विलय कर दिया जाए। लेकिन हमने इस दिशा में आगे बढ़ने के बजाय मौजूदा व्यवस्था को ही जारी रखा।

समिति ने निर्देशित कर्ज की व्यवस्था खत्म करने और प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को कर्ज देने का लक्ष्य घटाकर 10 फीसदी करने की सिफारिश की थी। साथ ही, प्राथमिकता वाले क्षेत्रों की परिभाषा को भी सीमित और स्पष्ट रखने

का सुझाव दिया था। इस दायरे में छोटे और सीमांत किसान, कारीगर, सूक्ष्म उद्यम तथा छोटे परिवहन संचालकों को शामिल करने की बात कही गई थी। समिति का यह भी सुझाव था कि प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को कर्ज देने का लक्ष्य पूरा हुआ या नहीं, इसका आकलन करते समय बैंक के साथ-साथ उसकी सहायक ग्रामीण कंपनी के कर्ज पोर्टफोलियो को भी ध्यान में रखा जाए।

यह हैरानी की बात है कि नरसिम्हम समिति ने 1991 में ही बैंकिंग क्षेत्र के भविष्य की चुनौतियों को इतनी दूरदर्शिता के साथ समझ लिया था। इसके बावजूद हम उसकी कई बुनियादी और स्पष्ट सिफारिशों को आज तक पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाए हैं। हकीकत यह है कि बैंकों का निजीकरण किए बिना भी बैंकिंग क्षेत्र में कई अहम सुधार किए जा सकते हैं। खासकर सरकारी बैंकों के कामकाज, प्रबंधन और संचालन में सुधार की काफी गुंजाइश है। नरसिम्हम समिति की 1991 की रिपोर्ट में सुधारों का जो एजेंडा अधूरा रह गया था, उसमें से कुछ प्रमुख मुद्दे आज भी ध्यान देने लायक हैं:

1. सरकारी बैंकों में प्रशासनिक सुधार की शुरुआत बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम को समाप्त करके की जानी चाहिए। इसके बाद इन बैंकों को कंपनी अधिनियम के तहत लाया जाना चाहिए। यह एक अपेक्षाकृत आसान, लेकिन बेहद महत्त्वपूर्ण कदम होगा। ऐसा होने पर सरकारी बैंकों का संचालन कंपनी अधिनियम और भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड (सेबी) के सूचीबद्धता संबंधी नियमों के तहत होगा।

2. बैंकों के ग्रामीण कारोबार को संभालने के लिए उनकी पूर्ण स्वामित्व वाली अलग सहायक कंपनियां बनाने का विचार आज भी आजमाया जा सकता है। जिस तरह बैंक अपनी बीमा और परिसंपत्ति प्रबंधन से जुड़ी गतिविधियों के लिए अलग सहायक कंपनियां चलाते हैं, उसी तरह ग्रामीण क्षेत्रों के कारोबार के लिए भी कम लागत वाली, बुनियादी बैंकिंग सेवाएं देने वाली सहायक कंपनी बनाई जा सकती है।

3. कई वाणिज्यिक बैंकों ने सूक्ष्म वित्त संस्थानों का अधिग्रहण करने के बाद अपनी गैर-बैंकिंग वित्तीय कंपनी का लाइसेंस वापस कर दिया है। अब वे इन संस्थाओं के नेटवर्क का इस्तेमाल बिजनेस कॉरेस्पॉन्डेंट के रूप में कर रहे हैं, ताकि कम लागत में वित्तीय समावेशन से जुड़े ग्राहकों तक पहुंच बनाई जा सके। ऐसे में ग्रामीण बैंकिंग के लिए अलग सहायक कंपनी बनाना एक अच्छा विकल्प हो सकता है।

4. बैंकों के लिए प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को कर्ज देने का लक्ष्य 40 फीसदी तय है। लेकिन इसकी परिभाषा इतनी व्यापक और उदार है कि बैंक कई बार कृषि क्षेत्र को एक भी किसान क्रेडिट कार्ड जारी किए बिना या एक भी फसल ऋण दिए बिना अपने लक्ष्य को पूरा कर सकते हैं। इसकी वजह यह है कि प्राथमिकता वाले क्षेत्र की मौजूदा परिभाषा में ट्रैक्टर, कृषि उपकरण, डेरी, मत्स्य पालन और मुर्गीपालन जैसी गतिविधियां भी शामिल हैं। इस व्यापक दायरे के कारण वास्तविक छोटे और सीमांत किसानों तक कर्ज पहुंचाने का उद्देश्य कहीं पीछे छूट सकता है। ऐसे में प्राथमिकता वाले क्षेत्र की परिभाषा को अधिक स्पष्ट और सीमित करने की जरूरत है। इसके साथ ही

लक्ष्य भी ऐसे होने चाहिए, जो उचित होने के बावजूद हासिल करने के लिहाज से चुनौतीपूर्ण हों। मौजूदा जरूरतों को देखते हुए प्राथमिकता वाले क्षेत्र के लिए 20 फीसदी का लक्ष्य पर्याप्त हो सकता है।

5. यह एक अच्छा विचार यह हो सकता है कि वित्त मंत्रालय के वित्तीय सेवा विभाग और आरबीआई के वरिष्ठ अधिकारियों के लिए नरसिम्हम समिति की 1991 की रिपोर्ट का साल में कम से कम एक बार अध्ययन अनिवार्य किया जाए ताकि उन्हें यह याद दिलाया जा सके कि सुधार से जुड़ा एजेंडा अभी पूरा नहीं हुआ है।

---

जनसत्ता

***Date: 13-11-26***

# जलवायु की फिक्र

**संपादकीय**



दुनिया भर में इस बात पर सहमति है कि अगर बढ़ते वैश्विक ताप के मसले पर जल्दी ही ठोस कदम नहीं उठाए गए, तो व्यापक स्तर पर इसके खमियाजे किसी न किसी रूप में सभी देशों को उठाने पड़ेंगे। जलवायु परिवर्तन के मुद्दे पर होने वाले अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में भागीदारी करने वाले सभी देश इस पर गहरी चिंता जताते हैं मगर हकीकत यह है कि बीते कई दशकों से लगातार वैश्विक ताप में इजाफे के कारणों और हल के उपायों पर सिर्फ चर्चा ही होती रही है। उन पर अमल का सवाल आते ही अलग-अलग कारणों का हवाला देकर ज्यादातर देश अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। खासतौर पर जिन विकसित या समृद्ध देशों को सबसे ज्यादा कार्बन उत्सर्जन के लिए जिम्मेदार माना जाता है, वे अपनी जवाबदेही को स्वीकार करने को तैयार नहीं दिखते और दुनिया का तापमान बढ़ने की जिम्मेदारी विकासशील देशों पर थोप देते हैं। सवाल है कि अगर विकसित देशों का यही रवैया कायम रहा, तो जलवायु परिवर्तन और उसकी वजह से खड़ी होने वाली स्थितियां कहां तक जाएंगी!

गौरतलब है कि तुर्किये के अंताल्या शहर में आयोजित संयुक्त राष्ट्र जलवायु सम्मेलन 'सीओपी 31' में बुधवार को एक बार फिर इस मुद्दे पर औपचारिक बातचीत शुरू हुई। इस बार की वार्ता के केंद्र में मुख्य रूप से पिछले साल भर में आई विनाशकारी बाढ़, लू और जलवायु से जुड़ी अन्य आपदाएं हैं। सम्मेलन में शामिल देश वैश्विक ताप को रोकने के लिए ठोस कदम उठाने पर सहमति बनाने की कोशिश कर रहे हैं। मगर इन प्रयासों की सीमा का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि अमेरिका और चीन सहित कई वैसे देश 'सीओपी 31' में हिस्सा नहीं

ले रहे हैं, जिन्हें सबसे ज्यादा कार्बन उत्सर्जन के लिए जिम्मेदार माना जाता है। गौरतलब है कि जलवायु परिवर्तन पर पेरिस में हुए सम्मेलन में वैश्विक तापमान को 1.5 डिग्री सेल्सियस तक सीमित रखने को लेकर एक लक्ष्य तय किया गया था, लेकिन अब तक इस दिशा में कोई ठोस प्रगति संभव नहीं हो सकी है और यह मुद्दा आज भी अंतरराष्ट्रीय वार्ताओं में चिंता का मुख्य विषय बना हुआ है। हालत यह है कि धरती का तापमान अब 1.5 डिग्री सेल्सियस की सीमा पार करना लगभग तय माना जा रहा है।

जब वैश्विक ताप की वजह से कहीं बेलगाम बाढ़, तो कहीं टूटते हिमनद या लू जैसे हालात के रूप में दुनिया भर में होने वाली तबाही सामने है, तब भी विकसित देशों के बीच इस मसले पर एक विचित्र उदासीनता कायम है। जलवायु परिवर्तन से उपजे संकट को केंद्र में रख कर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मेलन भले होते रहते हैं, लेकिन उसका अब तक कोई ठोस नतीजा सामने नहीं आया है। एक नई रिपोर्ट में दी गई चेतावनी से समस्या की गंभीरता का अंदाजा लगाया जा सकता है कि देशों के जलवायु वादों और वास्तव में होने वाली उत्सर्जन कटौती के बीच अंतर बढ़ता जा रहा है। जबकि स्थिति पर काबू पाने के लिए दुनिया को कार्बन उत्सर्जन में छह फीसद तक की कटौती करना जरूरी होगा, लेकिन ऐसा लगता है कि इसे लेकर विकसित देश गंभीर नहीं हैं। दूसरी ओर, गरीब और विकासशील देशों के सामने सीमित संसाधनों के बीच अपने दम पर जलवायु संकट का सामना करना एक बड़ी चुनौती है। ऐसे में जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए व्यावहारिक उपायों के संदर्भ में विकसित देशों से भारत की यह मांग बिल्कुल उचित है कि वे पेरिस जलवायु समझौते के मुताबिक विकासशील देशों को जलवायु कार्रवाई के लिए वित्तीय संसाधन मुहैया कराएं।

---

Live हिन्दुस्तान .com

***Date: 13-11-26***

# उच्च शिक्षा की बदहाली पर गौर कीजिए

**अनुराग बेहर, ( सीईओ, अजीम प्रेमजी फाउंडेशन )**



हम स्कूलों की नाकामियों के बारे में बहुत बात करते हैं, क्योंकि उनके शिक्षण के तरीके को हम आसानी से समझ जाते हैं, लेकिन कॉलेजों के मामले में यह सुविधा नहीं है। कॉलेजों के बारे में लोगों की बहुत कम जानकारी होती है और देश में चलने वाले सुधार अभियानों के केंद्र में ये कभी नहीं आ पाते हैं। आप नियत समय पर किसी भी कॉलेज में जाएं, तो शायद आपको कक्षाएं खाली मिलेंगी। उनमें न तो छात्र दिखेंगे और न ही

शिक्षक दिखाई देंगे। उन अभिभावकों के बारे में सोचिए, जो खुद अशिक्षित या कम पढ़े-लिखे हैं, लेकिन अपना पेट काटकर बच्चों को इन कॉलेजों में रोज-रोज बड़ी उम्मीद से भेजते हैं।

आज हमारे ज्यादातर उच्च शिक्षण सस्थानों की हालत स्कूली शिक्षा से भी बदतर है और उनसे कोई उम्मीद नहीं बची है। नियोक्ता लगातार हमारी स्नातक शिक्षा की गुणवत्ता की बुराई करते हैं, फिर भी लोगों की सोच, नीति-निर्माण और नागरिक समाज की गतिविधियों पर इसका कोई खास असर नहीं पड़ रहा। आखिर यह स्थिति क्यों है? इसकी पांच वजहें हैं और स्पष्ट कर दूं कि ये सिर्फ भारत के लिए नहीं हैं और यह कोई संपूर्ण सूची भी नहीं है।

सबसे पहली वजह, स्कूलों के बजाय कॉलेजों के पाठ्यक्रम को तय करना ज्यादा मुश्किल है। हमें इस बात पर विचार करना ही होगा कि क्या उच्च शिक्षा का उद्देश्य केवल नौकरी के लिए तैयार करना है? अगर है भी, तो किस प्रकार की नौकरी के लिए? या फिर छात्रों को जागरूक नागरिक और आलोचनात्मक विचारक भी बनाना है? क्या उच्च शिक्षा यह दोनों काम नहीं कर सकती? ये कोई मामूली सवाल नहीं हैं, लेकिन हमारे संस्थानों ने शायद ही कभी ईमानदारी से इनका जवाब देने की कोशिश की हो।

दूसरी वजह, उच्च शिक्षण संस्थानों ने शिक्षण को अनुसंधान के साथ मिला दिया है और इसे ही सर्वमान्य सत्य के रूप में मान लिया। बहुत कम शिक्षण संस्थान या शिक्षक, दोनों में अच्छा प्रदर्शन करते हैं। आम तौर पर ज्यादातर अनुसंधान बहुत घटिया किस्म के होते हैं। कुछ जो ठीक-ठाक होते भी हैं, तो उसका छोटा सा हिस्सा ही अच्छा होता है। यह संस्कृति इसलिए चल रही है, क्योंकि इससे शिक्षकों को एक पहचान मिलती है और इससे भी अधिक, उनके काम का बोझ हल्का होता है। दोनों को एक साथ जोड़ने का कोई कारण नहीं बनता है। बौद्धिक रूप से सक्रिय रहना और वैसा अनुसंधान करना, जिसे हमारी प्रणाली या वैश्विक प्रणाली सराहती है- अलग-अलग बातें हैं। दोनों में घालमेल दरअसल उच्च शिक्षा के बारे में हमारी सोच में कमी को ही उजागर करती है।

तीसरी, शिक्षकों और छात्रों के बीच एक अलिखित समझौता सा हो गया है कि न आप कक्षाओं को गंभीरता से लेंगे, न हम इनको जरूरी मानेंगे। कई संस्थानों में हालात यहां तक पहुंच चुके हैं कि उनमें छात्र कक्षाओं में नहीं आते और शिक्षक भी इससे खुशी महसूस करते हैं। हमारे शिक्षण संस्थानों, कॉलेजों और विभागों पर करीबी नजर रखने वाला हर व्यक्ति ऐसे संस्थानों के बारे में जानता है। इस दुरभिसंधि को हल्के में नहीं लिया जा सकता, क्योंकि शिक्षा का मतलब ही है कि कोई पढ़े और कोई पढ़ाए।

चौथी वजह, उच्च शिक्षण संस्थान बदलाव-विरोधी हैं, वे इसके प्रतिरोध में माहिर हैं। उनका मुख्य काम जनमत तैयार करना और उसे दिशा देना है, इसलिए किसी भी सुधार को वे फौरन 'अच्छाई बनाम बुराई' की जंग बना देते हैं या उसे आजादी पर हमला, या अच्छाई पर प्रहार का रूप दे देते हैं। संस्थान के भीतर के लोग जानते हैं कि इन बातों में कोई दम नहीं है, लेकिन उनकी संख्या नगण्य है।

पांचवीं, उच्च शिक्षा के लिए सरकारों से धन देने में कमी की जा रही है। इसका नतीजा है, शिक्षा का घातक व्यवसायीकरण। इसके साथ ही तंत्र ने इसमें बाहरी दखल और भ्रष्टाचार के लिए दरवाजा खोल दिया है।

मैं यहां इस पहलू में नहीं जाऊंगा कि राजनीतिक पार्टियां या संगठन कैसे शिक्षण परिसरों को अपने हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं, जिससे शिक्षा का मौलिक आधार कमजोर होता है। मैं इस पर भी बात नहीं करूंगा कि 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020' में इन मामलों को कैसे सुलझाया गया है। यहां खतरा इससे भी बड़ा है, वह है कृत्रिम बुद्धिमत्ता (एआई) का। इससे शिक्षा खोखली हो रही है, क्योंकि इसमें शिक्षक मशीन से पाठ तैयार करने लगा है, छात्र मशीन से जवाब तैयार करता है और एक अन्य मशीन उसके लिखे हुए का मूल्यांकन करने लगी है। इस पूरी प्रक्रिया में मानव दिमाग का कहीं कोई उपयोग नहीं है। सोचिए, यह कितनी भयावह स्थिति है और दूसरी ओर इन सबसे बेपरवाह नेता, अकादमिक, प्रशासक अधिक से अधिक एआई के उपयोग की मांग कर रहे हैं।

इस पूरे परिदृश्य में जो एक अहम बात है, वह हमारी नजरों से ओझल नहीं होनी चाहिए। हमारे पास अच्छे संस्थान और बेहतरीन शिक्षक हैं। हालांकि, इनमें से केवल 10-15 प्रतिशत उच्च शिक्षण संस्थान ही अपने काम को लेकर गंभीर हैं और शायद 20-25 प्रतिशत शिक्षक ही प्रतिबद्ध और मेहनती हैं। ऊपर जिन कमियों की चर्चा की गई हैं, वे सब इन पर लागू नहीं होती हैं। इन मुश्किलों के बावजूद वे बहुत मेहनत से काम करते हैं, जिसके लिए उनकी तारीफ होनी चाहिए, लेकिन हमारे पूरे शिक्षा तंत्र का ज्यादातर हिस्सा बेकार हो चला है, जिस पर हमारा बहुत कम ध्यान जा रहा है। अगर हम इन गड़बड़ियों को नहीं देख पाते हैं और उसे जारी रखते हैं, तो हमारे उच्च शिक्षण संस्थानों के लिए एआई का दानव जानलेवा हो सकता है।

जो लोग अपने सिर को रेत में छिपाए शुतुरमुर्ग की तरह 'तकनीक को हमेशा अच्छी चीज' मानने वाली सोच से प्रेरित हैं, उन्हें अपना सिर अब रेत से बाहर निकालकर दुनिया को साफ नजरों से देखना चाहिए। इससे जो समझ बनेगी, उसमें अधिकतर शिक्षण तंत्र से एआई को हटा दिया जाएगा और एक अच्छे उच्च शिक्षण तंत्र की नींव रखने के लिए कड़ी मेहनत की जाएगी, जो पुरानी सोच से बंधा हुआ न हो। अगर हम ऐसा नहीं करते हैं, तो हमेशा की तरह इसका सबसे ज्यादा खामियाजा उन लोगों को भुगतना पड़ेगा, जिनके पास आज बहुत कम है और जिन्हें अच्छी शिक्षा की सबसे ज्यादा जरूरत है।